प्रावृट्-पृषन्ति

(पावस की बूँद)



प्रणेता—

कवि पुण्डरीक

पण्डित श्रीसम्पूर्णदत्त मिश्र



July

1985

Some opinions about the author's original Sanskrit poetry 'RTULLASAH', published at Nirnaya Sagar Press, Bombay, about 30 years ago.—

'स्वल्पाकारमपि प्रसादमधुरं काव्यं सुधावर्षणं
निर्मायैतदनाविलं खलु ऋतूल्लासाभिधानं कविः ।
विश्वेषां कविताकृतां सुमनसां चेतांसि संप्रीणयन्
लब्धायं कविपुण्डरीकपदवीं जीयात्सतां संसदि ॥'

पौषवदि नवमी शनिवासरः
संवत् २०११

—अमृतवाग्भवाचार्यः

'I have been greatly impressed both by his command over the language and by his poetic gifts.'

February 22, 1954

Dr. Amara Nath Jha.
Ex-Chairman, P. S. C., Patna

'When the verses were being recited to me, I was reminded of Kalidas's 'Rtu-Samhara'. The budding poet is a keen observer of nature and has a command over Sanskrit language. Pt. Misra is gifted with genius and can compose with ease and fluency which are not easy to find.'

Jaipur
February 11, 1954

Mr. R. V. Kumbhare
M. A., T. D. (London)

प्रावृट्-पृषन्ति

(पावस की बूँद)

प्रणेता—
कविपुण्डरीकः
पण्डित सम्पूर्णदत्त मिश्र
M. A. (Sans.), M. A. (English)

प्रकाशकः—
पण्डित श्रीसम्पूर्णदत्त मिश्र
उल्लासश्रीभवनम्
गोपालगढ़
भरतपुर
३२१००१
राजस्थान
भारत

गुरुपूर्णिमा, मंगलवार
२ जुलाई १९८५ ई०

रु. ५)००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—
पण्डित सम्पूर्णदत्त मिश्र
उल्लासश्रीभवनम्
गोपालगढ़, भरतपुर, ३२१००१
(राजस्थान) भारत।

मुद्रक—
जयहिन्द फाइन आर्ट आफसेट प्रिन्टर्स
१०१ सहगलपुरा
मथुरा २८१००१।

अनुक्रमणिका

On the Sanskrit poetry **RTULLASAH** of
Kavipundarikah, Sampooruo Datta Mishra :—

'I hope you will have a successful career as a literary writer.'

Sir S. Radhakrishan
Ex-President,
The Govt. of India.

'I have read it with pleasure.'

Dr. C. D. Deshmukh
I. C. S. (Retd.)

On the Sanskrit poetry **SUKTI-PANCAMRTAM** of
Kavipundarikah Sampoorna Datta Mishra :—

'I read it with appreciation of its originality and style.'

Dr. C. D. Deshmukh
I. C. S. (Retd.)

Ex-Minister for Finance, Govt. of India.
Ex-Chairman,
University Grants Commission,
New Delhi.

भूमिका

"तुम्हारी वाणी में सम्पूर्ण ।
विश्ववीणा की व्याकुल तान ॥"

मैं कवि पुण्डरीक पण्डित श्री सम्पूर्णदत्त मिश्र का आभारी हूँ कि उन्होंने **'प्रावृट्-पृषन्ति'** नामक अपने कविता-संग्रह की भूमिका लिखने के लिये मुझे निमन्त्रित किया। मैं जानता हूँ कि मैं इस आदर का अधिकारी नहीं, क्योंकि न तो मैं कवि हूँ, न समालोचक। फिर भी मैंने उनके निमन्त्रण को उनके सहज सौजन्य का प्रतीक मानकर सहर्ष स्वीकृत किया। मुझे खेद है कि भूमिका लिखने में मेरी ओर से कुछ देर हुई किन्तु मुझे प्रसन्नता है, मिश्रजी ने मुझे क्षमा करने का आश्वासन दिया है।

प्रस्तुत कविता-संग्रह मूलतः उस समय का है जब श्री मिश्र लगभग बाईस वर्ष के थे—बल्कि संग्रह की कुछ कविताएँ तो उससे भी पहले की हैं। हाँ, प्रकाशन के वक्त उन्होंने अनुभव के आधार पर उनमें जगह जगह परिवर्तन और परिवर्धन कर दिए हैं।

इन कविताओं का पठन करने पर पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि ये सभी गीत काव्य के अनूठे उदाहरण हैं। उनकी पदावली ललित और कोमल है तथा उनकी कविता में जहाँ ओज है वहाँ प्रसाद भी। रस और भाव दोनों की पकड़ रखने वाले कवि के लिये ये दोनों ही आवश्यक हैं—

'नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।"

वैसे इन कविताओं का मूल सम्पूर्णदत्त जी के यौवन की कृतियों का अङ्ग है परन्तु अनुभव के फलस्वरूप उनमें परिवर्तन करके कवि-पुण्डरीक ने उन्हें परिपक्वता और गहराई प्रदान करदी है।

एक बात और। पण्डितजी संस्कृत के जाने माने विद्वान् और

कवि है; फिर भी हिन्दी से उन्हें विशेष प्रेम है और यही कारण है कि हिन्दी में लिखी इन कविताओं को तीन दशकों से अधिक समय तक सँजो कर ही नहीं रखा बल्कि उन्हें अब और सजा और सँवार कर प्रकाशन के लिये प्रस्तुत किया है। वैसे वे कहते हैं:—

"सुरबालाओं की सङ्गति से
संस्कृत-संवादी स्वर मेरा।
उसको सामान्य समागम के
कैसे अनुकूल बनाऊँ मैं ?"

फिर भी जनभाषा के आकर्षण के कारण उन्होंने इस संग्रह को प्रकाशित करने का स्वागतार्ह निर्णय लिया। साथ ही, जीवन की लम्बी यात्रा के बाद उन्हें शायद लगा कि:—

"कहती अनुभव की गहराई
मानव चुपके-चुपके जीना।
इस नीरवता के बीहड़ से
फिर कैसे नाद उठाऊँ मैं ?"

तब भी वे तय करते हैं कि आवाज बुलन्द करनी ही होगी। अपने गीत सुनाने ही होंगे।

पर इतने में ही प्रश्न उठता है :
"सुनाते हो कवि किसको गान ?"

आज जिसे देखो सदाचारी की निन्दा कर रहा है, गरीबों के उद्धार की बात एक फैशन बन गई है चाहे वे गुण्डा-गर्दी पर ही आमादा क्यों न हों—इसीलिए वे निश्चय करते हैं कि मौन तजकर मुखर होना ही पड़ेगा।

इन कविताओं का बीज तब डाला गया था जब कवि का मानस कोमल था, उसका जीवन आशाओं और उमंगों से ओत-प्रोत था, जब वायुमण्डल ऐसा था जिसमें 'गूंजे गीर्वाण-गिरा के स्वर' दिनरात मह-

कते थे जिसमें चावल, चन्दन, घी, अगर-तगर, और अब ? अब तो उस वायुमण्डल में "मारक-विष-दूषित दुर्गन्ध-धूम मँडराता है" किन्तु वायुमण्डल में ही, कवि के निजी जीवन में नहीं। अपने लिए तो वह कहता है—

'बनाकर छोटा सा आवास।
नगर में श्रम-सीकर से सींच।
किया करता मैं हास-विलास।
बैठ अपने परिकर के बीच॥'

लेकिन,

'तभी वीणा पर लेते तान।
हो गया सहसा हृदय उदास॥'

मानो उसका हृदय जयशंकर 'प्रसाद' के शब्दों में पुकार उठा हो—"विस्मृति आ, अवसाद घेर ले, नीरवते, बस चुप कर दे; चेतनता चल जा, जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।"

क्या यह 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्'.................... वाली बात तो नहीं ?

या फिर अखिल विश्व की व्यथा उसे चुप नहीं रहने देती और वह पुकार उठता है कि दर्प और आतप, सौजन्य और शीतलता को सदा दबा कर नहीं रख सकते—यह कहते-कहते कवि की वाणी प्रखर होकर मुखर हो उटती है—

"झञ्झा झकझोरों से प्रचण्ड, उद्दाम दामिनी समुद्दण्ड,
करता तरुओं को खण्ड-खण्ड डिग-डिग दिग्गज-गण-गण्ड-गण्ड।"

यहाँ हमें कवि पुण्डरीक के काव्य कौशल के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं—पोप ने कहा है:—

'The sound must seem an echo to the sense,'

अपने लम्बे जीवन में हर कोई उतार-चढ़ाव देखता है और होता यह है कि जिन्दगी के थपेड़े खाकर बहुत से हार मान बैठते हैं, बहुतों का मन कड़ुआ हो जाता है, वे विरले ही होते हैं जिनको ये उतार-

चढ़ाव जीवन का एक नया दर्शन प्रस्तुत करते हैं:—जिओ पर ऐसे जैसे जल में कमल। वैसे क्षण भर के लिए हमारे कवि के भी कदम लड़-खड़ाते हैं और वह पूछता है:—

"न जाने कैसे कर हुंकार, बढ़ा जाता है सब संसार।
खड़ा हूँ इनमें आंख पसार, बढ़ूंगा कैसे इतनी दूर।
चलूँगा कैसे इतनी दूर ?"

किन्तु बस क्षणभर को ही, क्योंकि उसके पास अपनी समग्र दृष्टि का चिरन्तन जीवन-दर्शन जो है:

"यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भवत: स मे प्रियः।"

"कोई कहता हो पागल है, कोई कहता हो मेधावी,
मैं गुण-दोषों की चिन्ता की उस सीमा को भी पार किये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिए बैठा हूँ।"

"मैं हँसता हूँ या रोता हूँ कोई कह सकता नहीं कभी।
हँसने-रोने की रेखा की छाती पर योगास्वाद लिए बैठा हूँ।"

और इससे भी ऊँचा लक्ष्य है करुणा और मेल का। वह 'बैरागी बन कोपानल को करुणाजल का रूप दिए बैठा है" और यही है आज के संतप्त संसार की पुकार-करुणा और मैत्री।

ईश्वर से प्रार्थना है कि पाठकों को कवि के इस दर्शन से प्रेरणा मिले और वे अपने जीवन को सार्थक बनाएँ। आशा है यह कविता संग्रह उन्हें भाएगा और वे इन सुन्दर कविताओं का रसास्वाद करके प्रसन्न होंगे।

गुरुवार,
विजयदशमी २०४२ विक्रमाब्द
४ अक्टूबर १९८४ ई०

(रमाप्रसन्न नायक)
(ICS राजसेवा निवृत्त)

भूतपूर्व मुख्य सचिव मध्यप्रदेश सरकार, भोपाल।
भूतपूर्व राजभाषा सचिव, गृह-मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली।
भूतपूर्व कुलपति, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश।

भूमिका–लेखक
श्री रमाप्रसन्न नायक
आई० सी० एस० (राजसेवा निवृत्त)



The foreword-writer

Shri Rama Prasanna Naik, ICS. (Retd.)

Ex-Special Secretary for the State Language,
Ministry of Home Affairs, Govt. of India, New Delhi.
Ex-Chancellor;
Jabalpur Uuiversity, Jabalpur, Madhya Pradesh.

संकेत

'प्रावृट्-पृषन्ति' मैंने १९५० ई० में लिखी थी। उस समय मैं बाईस वर्ष का था। इसकी कुछ कविताएँ उसके भी पहले की हैं अर्थात् मेरी सोलह-सत्रह वर्ष की वय की। आज पहली बार प्रकाशन के समय वर्तमान अनुभूति के आधार पर मैंने अपने यौवन की इन कृतियों में से कुछ में कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। कहीं-कहीं, कुछ नई पंक्तियाँ भी डाली हैं। सात कविताओं के शीर्षक बदले हैं। चार कविताओं (संस्कार, माया, प्रतिक्रिया, सान्त्वना) के शीर्षक नहीं बदलने पड़े। कलेवर में कविताओं के मौलिक स्वरूप का विनाश नहीं होने दिया गया है। उस समय प्रवेश नाम से जो छोटी सी भूमिका लिखी थी वह भी मैंने आगे दे दी है। 'प्रतिक्रिया' नामक कविता सूर्य और जल इन दो प्रतीकों के अनौचित्य के कारण रसभावाभास के क्षेत्र का उदाहरण बन गई है। 'कविता' नामक कविता के शीर्षक का विशेष अर्थ 'कवि होना' है।

श्री रमाप्रसन्न नायक ने इसकी भूमिका लिखी इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। श्रीनायक साहब की भूमिका १९८४ ई० की शरदृतु (अक्टूबर) में प्राप्त होने के बाद सात महीने तक मथुरा की प्रसक्त प्रेस की पंडित श्री हरदेवशर्मा त्रिवेदी के श्रीविश्वविजय पंचांग, गजेन्द्रविजय पंचांग तथा ज्योतिष्मती आदि की छपाई में व्यस्तता के कारण प्रावृट्-पृषन्ति (पावस की बूँद) प्रकट न हो सकी। लगता है प्रावृट्-पृषन्ति के प्राकट्य की नियति प्रावृट् में ही थी सो प्रावृट् में ही होकर रही।

मितिः देवशयनी एकादशी शुक्रवार,
संवत् २०४२ विक्रमाब्द
(२८ जून, १९८५ ई०)

कविपुण्डरीक
सम्पूर्णदत्त मिश्र

——

प्रवेश

'प्रावृट्-पृषन्ति' का अर्थ है—प्रावृट् ऋतु की बूँद। विज्ञ जानते हैं कि प्रावृट् के पश्चात् आसार-लक्षणा वर्षा ही आया करती है किन्तु कर्त्ता स्वतन्त्र है। उसको अधिकार है कि वर्षा शीघ्र भेजे, देर से भेजे या अवग्रहादि करदे। कारण, वही जाने। उसकी कृति से प्रभावित होने वाली व्यक्ति यथाशक्ति प्रार्थना, समालोचनादि कर सकती हैं किन्तु यह कौन जाने कि वह क्या कब क्यों करता है? उसकी व्यापन्नता भी साभिप्राय है।

अतः उसकी गति को श्रद्धापूर्वक ध्यान से देखते रहना रसोत्पत्ति में सहायक हो सकता है अन्यथा सिर धुनने पर प्रतिबन्ध नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य अनिवार्य है।

सम्पूर्णदत्त मिश्र

१६५०ई०

०——०

मंगलाचरणम्

श्रीविद्यावन्दनासक्तः श्रीगणेशाम्बिकागुरून् ।
प्रणम्य कविता-प्रावृट्-पृषन्तिं प्रणयाम्यहम् ॥१॥

भगवती श्रीविद्याकी वन्दना में आसक्त मैं (सम्पूर्णदत्तमिश्र) लक्ष्मीगणपति, अम्बिका और गुरुओं को प्रणाम करके कविता-प्रावृट् की बूँद अर्थात् प्रावृट्-पृषन्ति नामक काव्य का प्रणयन कर रहा हूँ ॥१॥

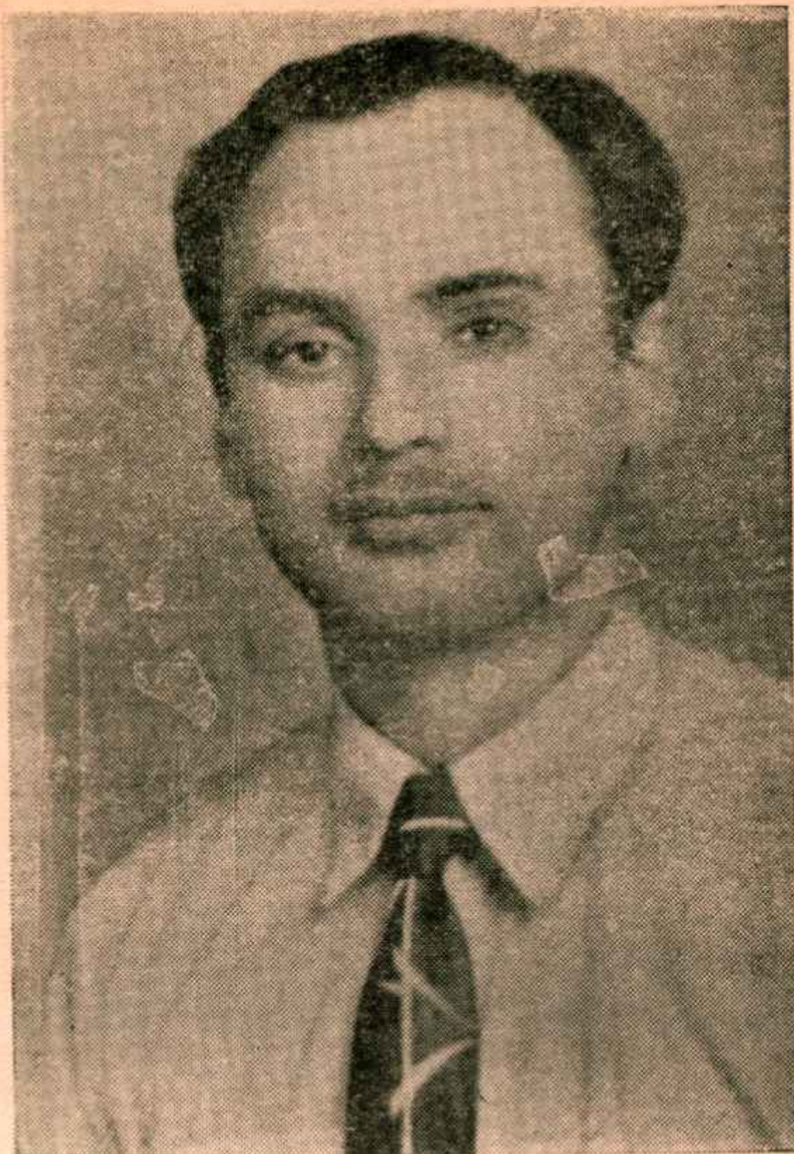
कृतं प्रावृट्-पृषन्तीतिनाम्ना प्राकृतवाङ्मयम् ।
मिश्रसम्पूर्णदत्तस्य जायतां जगतां मुदे ॥२।

मुझ सम्पूर्णदत्त मिश्र के बनाये, प्राकृतभाषा (हिन्दी) के इस प्रावृट्-पृषन्ति नामक काव्य को पढ़कर संसार प्रसन्न हो ॥२॥

सूक्तामृतं विधिवशात्सुखदुःखभाजां
सन्तर्पकं भवितुमर्हति तन्निमित्तम् ।
उद्भावयामि भगवत्कृपया कवित्व–
प्रावृट्-पृषन्तिमिह मानसमार्जनाय ॥३॥

सूक्तामृत (काव्यामृत) भाग्यवश सुख-दुःख-भोगी लोगों को सन्तृप्त करने वाला हो सकता है इस कारण मैं भगवान् की कृपा से इस कविता-प्रावृट् की बूँद का, मन के मार्जन के लिये, प्रादुर्भाव कर रहा हूँ ॥३॥

—०—



कविपुण्डरीक :—

पण्डित सम्पूर्णदत्त मिश्र

एम. ए. (संस्कृत) एम. ए. (अंग्रेजी) १० मई, १९५९

Kavipundarikah

Sampoorna Datta Mishra

M. A. (Sans.), M. A. (Eng.)

On May 10, 1959.

प्रावृट्-पृषन्ति

(पावस की बूँद)

संस्कार

सुनाती है वीणा क्या आज !

अरे देखूँ, ये वे ही तार !
वही पहली जैसी झङ्कार !
मूर्च्छना वही, गमक भी वही !
वही सारा स्वर का सञ्चार !
उसी से भावों का भिन्नार्थ !
जताती है वीणा क्या आज !
सुनाती है वीणा क्या आज ।।१।।

बनाकर छोटा सा आवास
नगर में श्रम-सीकर से सींच।
किया करता मैं हास-विलास
बैठ अपने परिकर के बीच।
तभी वीणा पर लेते तान
होगया सहसा हृदय उदास।
अँगुलियाँ विकल, चल गया ध्यान
बन गया नीरस राग-विलास।
सुरागी जीवन में बैराग
जगाती है वीणा क्या आज।
सुनाती है वीणा क्या आज ॥२॥

यही वीणा है जो ले गई
मुझे थी तब परियों के देश!
यही वीणा है जो भर गई
चित्त में उन्नति का आवेश!
सुना? कहती है कुटिला आज
जगत् में उन्नति अवनति एक!
भाग्य-सम्भावित भोगों बीच
भवानी-भक्ति सुभद्र विवेक!
कामना-कुल-कल्पित विश्वास
उठाती है वीणा क्या आज!
सुनाती है वीणा क्या आज! ॥३।

o——o

अनुभव

यह मन में आता सा क्या है ?
जिनमें पर्यङ्कों पर पड़कर
रमणी अँगड़ाई लेती थीं।
अन्त.पुर किङ्करियाँ मुख में
ही पान-सुपाड़ी देती थीं।
जिनमें अत्याचारी अरि की
कल्पना नहीं घुस सकती थी।
सम्मानित मञ्चों पर प्रभुता
गौरव के पलक झपकती थी।
उन महलों के अवलोकन से
स्मृति को उकसाता सा क्या है ?
यह मनमें आता सा क्या है ?॥१॥

जिनमें वीरत्व-वन्दना-रत
चारण-गण तक्क खड़े होते।
आविष्ट क्षत्रियों की कटि में
कितनों के प्राण पड़े सोते।
युग की विभूतियाँ सज-धज कर
जिनमें अपना आसन गहतीं।
उन सूनी राज-सभाओं में
अब चमगादड़ चिपकी रहतीं।
संस्कृतियों की कृति-दुर्गति से
मति को बिजकाता सा क्या है ?
यह मनमें आता सा क्या है ?॥२॥

यह वही वायुमण्डल जिसमें
गूँजे गीर्वाण-गिरा के स्वर।
दिन-रात महकते थे जिसमें
चावल, चन्दन, घी, अगर, तगर।
अब उसमें मारक-विष-दूषित

दुर्गन्ध-धूम मँडराता है।
उच्छृङ्खलता का दारुण रव
निश्छल को नित्य डराता है।
उत्कट अनिष्ट आशंका से
धृति को धमकाता सा क्या है ?
यह मन में आता सा क्या है ? ॥३॥

नव-वधुओं के प्रासाद खड़े
खँडहर बन जाते खड़े खड़े।
उनकी निष्प्रभता पर रोते
उजड़े उद्यानों के मुखड़े।
जब इनके मौनालोकन से
संकल्प खड़े रह जाते हैं।
विचलित से पौरुष के अंकुर
निर्वेद-निकृत मुरझाते हैं।
तब पुलकित जीवन-धारा को
अवधीरित करता सा क्या है ?
यह मन में आता सा क्या है ? ॥४॥

जब जन की सच्ची घटनाएँ
स्वप्नों में परिवर्तित होतीं।
स्वप्निल कल्पों की शोभाएँ
तथ्यों के तल्पों पर सोतीं।
जब चलने-फिरने में मानव
मन-चाहा अभिनेता हो ले।
रमणीय तरुणिमा की बोली
लालित्य-अलंकृत हो बोले।
तब तृप्ति-निशा की शय्या पर
विस्मृति बरसाता सा क्या है ?
यह मन में आता सा क्या है ? ॥५॥

निराशा

कैसे संगीत सुनाऊँ मैं ?

कुञ्जों को गुञ्जित करने की
क्षमता न रही मेरे स्वर में—
यह मत समझो पर मन्थर मन
कैसे आलाप लगाऊँ मैं ?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं ? ॥१॥

सुरबालाओं की सङ्गति से
संस्कृति-संवादी स्वर मेरा।
उसको सामान्य-समागम के
कैसे अनुकूल बनाऊँ मैं ?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं ? ॥२॥

कहती अनुभव की गहराई
मानव चुपके चुपके जीना।
इस नीरवता के बीहड़ से
फिर कैसे नाद उठाऊँ मैं ?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं ? ॥३॥

यमुना के पार प्रियावन में
परियों के पाँव थिरकते हैं।
कैसे मृदङ्ग पर व्यथा-शिथिल
हाथों से थाप लगाऊँ मैं ?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं ? ॥४॥

संसार-साधना के साथी
राजस प्रासादों में बैठे।
दिन-रात कंसरा गाते हैं
फिर तन्त्री कहाँ मिलाऊँ मैं?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं? ॥५॥

माधवी-लता के मण्डप में
जब मेरे सपने सोते हों।
तब ग्रीष्म दुपहरी में वैसा
उत्साह कहाँ से लाऊँ मैं?
कैसे संगीत सुनाऊँ मैं? ॥६॥

मुख के मधुमय विकसन में यदि
वेदना छुपाना अच्छा हो।
खिलकर बुझते अङ्गारों की
फिर क्योंकर राख उड़ाऊँ मैं?
कैसे सङ्गीत सुनाऊँ मैं? ॥७॥

०——०

माया

माये, तुम क्यों कलपाती हो ?

आर्जव से आवर्जित जो नर
मुख-चन्द्र तुम्हारा चूम चुका।
उसको बाँहों से बहलाती
कामने, कहाँ ले जाती हो ?
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥१॥

उसकी उस निश्छलता पर तो
तुमने कुछ ध्यान दिया होता।
उस रूप-कला-विश्वासी को
वासने, कहाँ उलझाती हो ?
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥२॥

तुमसे मिलने की वेला की
कल्पना कुतूहल क्यों न करे ?
जब जन के मन-मन्दिर में तुम
झिलमिल करती सी आती हो !
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥३॥

कलना-कुल्या के कूलों पर
जो तुमको पास बुलाता है।
उस बन्धुर की बन्धुरता का
तुम क्यों उपहास कराती हो?
माये, तुम क्यों कलपाती हो? ॥४॥

तुम बन बैठीं जिसकी रमणी
जिसकी सत्ता की अधिनायक।
फिर उसकी आँखों में उसको
क्यों भला बुरा बनवाती हो ?
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥५॥

शोभने, तुम्हारे इङ्गित पर
इतिहास लिखा करता जीवन।
लिखते जीवन के पृष्ठों में
तुम क्यों ज्वाला सुलगाती हो ?
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥६॥

रखकर अपना व्यक्तित्व सदा
निष्ठुरे, तुम्हारी गोदी में।
जो दिखा चुका अपना सब कुछ
उसको तुम क्या दिखलाती हो?
माये, तुम क्यों कलपाती हो? ॥७॥

वञ्चित जब विद्रोही बनकर
कुछ खोज रहा सा होता है।
तब उत्तेजित करने वाली
वञ्चने, कहाँ छुप जाती हो?
माये, तुम क्यों कलपाती हो? ॥८॥

जो जा बैठा सूनेपन में
तुमसे कुछ दूर दिगञ्चल में।
उसको सम्भावित शैली से
मुसका फिर क्यों फुसलाती हो?
माये, तुम क्यों कलपाती हो? ॥९॥

मानव के जब तन मन धन का
यौवन श्रृङ्गार बिखरता है।
तब क्यों अनुभव के आँगन में
तुम खड़ी खड़ी पछताती हो ?
माये, तुम क्यों कलपाती हो ? ॥१०॥



प्रतिक्रिया

स्वच्छन्द विभाकर के ओ कर,
तू जल को अति सन्तप्त न कर।
इसके शीतल अन्तस्तल को
बतला तूने कब कब देखा?
इस चञ्चल चन्द्र-कला-चुम्बित
जीवन की सन्तर्पण-रेखा,
इसका हँसना, इसका रोना,
फिर फिर धरती को हरसाना।
इसका जगती का मुख धोना
बतला तूने कब पहिचाना?
सौजन्य तुझे अब यह कहता—
तू अनुचित पर अधिकार न कर।
स्वच्छन्द विभाकर के ओ कर,
तू जल को अति सन्तप्त न कर ॥१॥

दीनों का हृदय दुखाने का
परिणाम न अच्छा होता है।
दबते को अधिक दबाने का
यह काम न अच्छा होता है।
युग-युग से संयत पयः पूर
संयम का फल दिखलाता है।
वर्षों से सञ्चित आँसू यदि
बहता तो क्रान्ति कराता है।
उच्छृङ्खल शासन के प्रतीक,
हो सावधान, अन्याय न कर।
स्वच्छन्द विभाकर के ओ कर,
तू जल को अति सन्तप्त न कर ॥२॥

तू है प्रचण्ड रवि का अनन्य
सबको स्वीकृत है निर्विवाद।
तू तरुण तरणि का तत्त्व-सत्त्व,
सबको अङ्गीकृत निर्विवाद।
तू मिटा चुका है कितनों को
कितनों को अभी मिटा देगा।
मरु के कितने पल्लव-दल को
खर आतप से झुलसा देगा।
फिर भी तुझसे मैं कहता हूँ—
निज पौरुष पर अभिमान न कर।
स्वच्छन्द विभाकर के ओ कर,
तू जल को अति सन्तप्त न कर ॥३॥

यदि मेरी बात न मानी तो
देखेगा चमत्कार जल का
गर्जन कर दम्भ मिटा देगा
शीतल जल तेरे उस बल का।
बादल बनकर जो उठ बैठा
ढक लेगा तेरे आकर को।
कुछ पल के लिये भुला देगा
जगती से दिव्य दिवाकर को।
झंझा झकझोरों से प्रचण्ड
उद्दाम-दामिनी समुद्दण्ड,
करता तरुओं को खण्ड-खण्ड,
डिग-डिग दिग्गज-गण-गण्ड-गण्ड,
व्यंजित करता अपकार-दण्ड,
इक बार करे प्रतिरोध प्रखर।
स्वच्छन्द विभाकर के ओ कर,
तू जल को अति सन्तप्त न कर ॥४॥

सान्त्वना

मानव, गिरते क्यों रोता है ?

गिरना ही है तो तू गिर पड़
क्यों दुर्बल भाव सँजोता है ?
शुभ लक्षण भी होता गिरना
गिरकर उठना भी होता है ।
मानव, गिरते क्यों रोता है ? ।।१।।

तेरी इन आँखों के आगे
कितने वसन्त ढल जायेंगे ।
तृष्णा की तन्द्रा में जागे
कितने सपने बल खायेंगे ।
पर हँसने के पहले मानव,
तुझको हँसकर रोना होगा ।
जीने के पहले ओ मानव,
तुझको जीकर मरना होगा ।
कोई चाहे या ना चाहे
फिर भी ऐसा कुछ होता है ।
मानव, गिरते क्यों रोता है ? ।।२।।

तेरी वाणी का आकर्षण
मिट गया आज सहसा मानव !
तेरी सङ्गति का सम्मोहन
छुट गया आज सहसा मानव !
तेरी सत्ता का सुखद रूप
उड़ गया आज सहसा मानव !
तू उपजीवी जन को कुरूप
बन गया आज सहसा मानव !
उज्ज्वल अतीत के खिले फूल
सौरभ को भी क्यों खोता है ?
मानव, गिरते क्यो रोता है ? ॥३॥

प्यासे पौधों के भव्य सुमन
विकसित होते रह जाते हैं।
अभ्रङ्कष गिरि के हिम-किरीट
गिर कर गल कर बह जाते हैं।
कितने ही प्रतिभा के प्रतीक
जगते-जगते सो जाते हैं।
जगती के कितने परिवर्तन
अभिरुचि के अश्रु बहाते हैं।
ऋजु मित्र, बता फिर तू ही क्यों
इतना आतङ्कित होता है ?
मानव, गिरते क्यों रोता है ? ॥४॥

०——०

जिज्ञासा

यह कौन युगों से सोच रहा
जीवन की परिभाषा क्या है ?

जिसमें चेतना तड़पती है
संसृति की वह आशा क्या है ?
जीवन की परिभाषा क्या है ? ॥१॥

कलुषित-विकल्प-सङ्कलन-लीन
कलहाकुल कोलाहल करते ।
दर-कुण्ठित काल-कला-कवलित
पापी की प्रत्याशा क्या है ?
जीवन की परिभाषा क्या है ? ॥२॥

क्यों आज विकल करती स्मृतियाँ
उस बीती हुई कहानी की ?
अनुभव के कोने-कोने में
यह चलता सपना सा क्या है ?
जीवन की परिभाषा क्या है ? ॥३॥

मुकुलों के मुख पर आगामी
यौवन की रेखा देख देख।
अधखिले फूल के ओठों का
रुक रुक कर हिलना सा क्या है ?
जीवन की परिभाषा क्या है ? ॥४॥

पल में हँसना, पल में रोना
चंचलता की चुगली करता।
हँसना-रोना जो छोड़ चुके
उन मूकों की भाषा क्या है ?
जीवन की परिभाषा क्या है ? ॥५॥

०——०

पुरुषार्थ

वैसे तो सोते-जगते भी
ढल जाता है जग का जीवन।

शिशुता आती है, जाती है
बढ़ती किशोरता की फड़कन।
फिर करतानाद चलाआता
उद्दाम जवानी का स्पन्दन।
माया-मन्दिर की छाया में
चिर-विलसन-उल्लासित यौवन।
पर मिलता है उतना ही सुख
जितना ईश्वर का अनुमोदन।
वैसे तो सोते-जगते भी
ढल जाता है जग का जीवन ॥१॥

उल्लसित लतालिङ्गन-लालस
कोमल किसलय-कुल का अभिनय।
कामातुर तरुणी के उर से
तरुणों के मानस का विनिमय।
चाहे होता ही रहता हो
पर ऐसे भी कितने सज्जन।
जिनको अपथ्य उद्वेजनकर
परका–महिला–मदिरा—मज्जन।
वैसे तो सोते-जगते भी
ढल जाता है जग का जीवन ॥२॥

सम्पदा-समासादन में भी
वे अत्याचार नहीं करते।
निस्तेजस्वी बन जीते जी
वे सौ-सौ बार नहीं मरते।
कहते हैं मङ्गलमय होते
धर्माचारी के नारीधन।
आगम-सम्मत पुरुषार्थ सदा
धर्मालम्बित कामार्थार्जन।
वैसे तो सोते-जगते भी
ढल जाता है जग का जीवन ॥३॥

o——o

व्यक्तित्व

मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ।

निर्झरिणी की हर्षित हेला
कोकिल के कलरव का रेला—
मैं सुनता हूँ पर भीतर तो
चिर नीरवता का नाद लिये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥१॥

नाड़ी में प्रस्पन्दन लेकर
मैं जीवन-पथ पर आया था।
अब जाता हूँ पर पूछो तो
मैं थककर कुछ उच्छ्वास लिये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥२॥

मैंने जो कुछ देखा पथ पर
चलते-चलते उत्सुकता से।
भोले पथिकों को समझाने
उस अनुभव का आभास लिये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥३॥

कितने ही लक्ष्यों की माया
मानस में मादकता लाई।
अब लक्ष्यों के निर्धारण की
परिपाटी का परिहास किये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥४॥

मेरे अन्तस्तल में ज्वाला
चाहूँ तो आग लगा दूँ मैं।
फिर सागर बन वरुणानल को
क्या बडवानल का रूप दिये बैठा हूँ ?
जलदावलि बन मेघानल को
क्या विद्युद्बल का रूप दिये बैठा हूँ ?
ना, बैरागी बन कोपानल को
करुणाजल का रूप दिये बैठा हूँ ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥५॥

कोई कहता हो पागल है,
कोई कहता हो मेधावी।
मैं गुण-दोषों की चिन्ता की
उस सीमा को भी पार किये बैठा हूँ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥६॥

मैं हँसता हूँ या रोता हूँ
कोई कह सकता नहीं कभी।
हँसने-रोने की रेखा की
छाती पर योगास्वाद लिये बैठा हूँ ।
मैं जीवन में अवसाद लिये बैठा हूँ ॥७॥

०——०

शाम्भवी मुद्रा में

कविपुण्डरीक

सम्पूर्णदत्त मिश्र

मितिः वैशाखवदि अष्टमी संवत् २०४१ विक्रमाब्द



Kavipundarikah

Sampoorna Datta Mishra

M. A. (Sans.), M. A. (Eng.)

In Sambhavi Mudra

(a special pose of Yoga for tantrics)

1984

मोह

चलूँगा कैसे इतनी दूर ?

सुना है वह आश्रम रमणीय
घने वृक्षों का शीतल देश।
परं पथ पर तो है सन्ताप
सहूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ।।१।।

किये भावों पर चिर अधिकार
जगाती जो कौतूहल आज।
सहचरी के शिञ्जित पद-चाप
सुनूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ।।२।।

कामनाओं का ही संघर्ष
मनुज के जीवन का इतिहास।
नये पृष्ठों पर वह इतिवृत्त
लिखूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ।।३।।

कभी दो बात करने आज
चाहिये मुझको कोई साथ।
वहाँ के गह्वर में अधिवास
करूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ।।४।।

मिटाना ही होगा क्या हाय !
जुटाये बैठा हूँ जो आज !
सुखों का झिलमिल सा संसार
रचूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ॥५॥

यहाँ तो जैसे तैसे नित्य
बुझा लेता हूँ अपनी प्यास।
छलकते आँसू का प्रतिकार
करूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ॥६॥

न जाने कैसे कैसे दृश्य
बनेंगे मेरी चिर अनुभूति !
उसी से शब्दों का श्रृङ्गार
करूँगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ।७॥

न जाने कैसे कर हुङ्कार
बढ़ा जाता है सब संसार !
खड़ा हूँ इनमें आँख पसार
बढूंगा कैसे इतनी दूर ?
चलूँगा कैसे इतनी दूर ? ॥८॥

०——०

कविता

सुनाते हो कवि किसको गान ?

मनोनिग्रह कर निश्चल नयन
किया करते हो किसका ध्यान ?
सुनाते हो कवि, किसको गान ? ।।१।।

काव्य-साहित्य-विदूषक देख
तुम्हारा भव्य कला-परिधान।
तुम्हें निष्फल करने के लिये
कर रहे कुढ़कर अभिसंधान।
तुम्हारा अरि ईर्ष्यालु समाज
न राजा-प्रजा, न धनि-संस्थान।
सुनाते हो कवि, किसको गान ? ।।२।।

कृपण-पणहीनों में दिन-रात
स्वयं भी रहकर चिर पणहीन।
सदा दीनों की करते बात
स्वयं भी बन बैठे हो दीन।
सुनो, सोचो, सुन मेरी बात,
धनोपार्जन सीखो सुख मान।
तुम्हारा निखरेगा व्यक्तित्व
तभी शोभा देगा सम्मान।
द्रविण होता प्रतिभा का शत्रु
तुम्हारा झूठा यह अनुमान।
सुनाते हो कवि, किसको गान ? ।।३।।

सदाचारी की निन्दा आज
बन गई है युग का सौजन्य।
सताने में सुजनों को लोग
समझते हैं अपने को धन्य।
कहीं सुन लो, बस, एक विचार
गरीबों का कर लो उद्धार।
नहीं हो सकती है क्या कभी
गरीबी गुण्डों का आगार?
लोभ-लालायित खल पर मित्र,
कृपा करना भी पाप-समान।
सुनाते हो कवि, किसको गान? ॥४॥

काम के लिये कितव-संसार
विनय का बन जाता अवतार।
करुण चित्रण कर बारम्बार
उभाड़ा करता दया अपार।
उधर सज्जन सङ्कोचों बीच
झेलता भी दुःखों की मार।
नहीं कह सकता मन की बात
दुर्जनों की रसना अनुसार।
काव्य निष्फल कवि, यदि हो सके
न जिससे भले बुरे का ज्ञान।
सुनाते हो कवि, किसको गान? ॥५॥

किसी के रोने का भी शब्द
तुम्हारी बन जाता सम्पत्ति ।
किसी के हँसने का भी शब्द
तुम्हारी प्रतिभा की प्रतिपत्ति ।
किसी सत्ता की मूक पुकार
तुम्हीं सुन सकते हो बस, एक ।
किया है किस ब्रह्मा ने हाय !
तुम्हारे प्राणों का सन्धान ?
सुनाते हो कवि किसको गान ? ।।६।।

झलकता सा क्या है वह दूर
दिशाओं की गोदी के बीच ?
अनोकह में उलझे उन्मेष
न जाने कौन रहा है खींच ?
प्रकृति के कण-कण में संमोह
जगाता जीवन में यह कौन ?
किसी की क्रीडा का आभास
तुम्हारी चिन्ता की सन्तान ।
सुनाते हो कवि, किसको गान ? ।।७।।

विचारों के जग में विद्रोह
मचा देता है जब आवेश।
मचल कर कामी का अनुराग
सुनाता है जड़ को सन्देश।
बिलखती चेतनता अत्यन्त
नहीं सहती नीरव सन्दान।
मुखरता ही होती क्या तप्त
वियोगी की सच्ची पहिचान?
सुनाते हो कवि, किसको गान? ॥८॥

तुम्हारी भाषा को सम्मुग्ध
सुना करता सारा संसार।
तुम्हारे भावों में विश्रब्ध
समाधानों का वर सम्भार।
तुम्हारी मुद्रा में उन्निद्र
विधाता के वैभव का भान।
तुम्हारी वाणी में सम्पूर्ण
विश्व-वीणा की व्याकुल तान।
सुनाते हो कवि, किसको गान? ॥६॥

०——०

Some more opinions about the author's same Sanskrit poetry RTULLASAH :--

'आज हमने भरतपुर निवासी **श्रीसम्पूर्णदत्तजी मिश्र** का लिखा हुआ '**ऋतूल्लास**' नाम का एक खण्डकाव्य देखा। हमने इसे सम्यक् प्रकार पढ़ा। काव्य छोटा है तदपि मधुर है एवं भावपूर्ण तथा प्रसाद-गुणपूर्ण है। इस काव्य में स्रग्धरा छंद उत्तमरीति से सुसज्जित हुआ है। यह ग्रीष्मऋतु से प्रारम्भ किया गया है। **ऋतु संहार नाम का कविकुल शिरोमणि कालिदास** का काव्य भी ग्रीष्मकाल के वर्णन सेही आरम्भ होता है।

कविवर सम्पूर्णदत्त जी का यह प्रयास संस्कृत साहित्यरूप महान् उपवन की ओर भावुकता के साथ हुआ है। कवि की कृति में सहृदयता और अभिनवरोचकता भरी पड़ी है। ऐसे काव्य शरीर प्रादुर्भूत करने वाले कवि पूर्वजन्म के ऋषि होते हैं।'

१०-६-५५ ई० **पण्डित श्रीहरि शास्त्री दाधीच, जयपुर**

'The poems show the author's unwearied pursuit of learning The auther has ably described the break of rains in a mellifluous voice. The poet of love has sublimated himself into a poet of truths. He has tried to translate the natural beauties of seasons to realities. The poems have thrown full glare on the natural beauties of the seasons The Savant writer has a clear vision born of dispassionate outlook. The author has achieved great ends and deserves every commendation for oomposing these poems.'

Mr. A. Bhattacharya

1954 1st Addl. Session Judge, Allahabad.

'........verses composed in easy style after the famous 'RTU-Samhara' ascribed by some to the great poet Kalidas. Misra's attempt is laudable and deserves appreciation.'

George Town, Dr. P. K. Acharya, I.E.S. (Rtd.)
Allahabad 4-3-54 B.A. Hons., M.A., Ph.D., D.Lit. London

राधाकृष्णकलानिधिः

(कविकृत हिन्दी-इंगलिश पद्यानुवाद सहित)

प्रणेता—कविपुण्डरीकः सम्पूर्णदत्त मिश्र

(To be published after some time)

RADHA-KRSNA-KALANIDHIH

By —Kavipundarikah

Sampoorna Datta Mishra, M. A (Sans), M. A (Eng.)

(Translated into Hindi and English verse by the poet himself)

The poet, Kavipundarikah, Sampoorna Datta Mishra, has proved, in its foreword in Hindi and English here that a number of English poems of great English poets, including Wordsworth, Shelley and Keats were written in the same Sanskrit metre in which this eulogy of Radha and Krsna is created by him. Is it not an astounding discovery in which the great minds of the world, especially those of Britain and India, ought to be interested ? The same is the metre of Siva Tandava af Ravana, the notorious demon King of Lanka, and that of Radha Krpa Kataksa as well as Krsna Krpa Kataksa, ascribed by some to the First Lord Sankaracarya. These eulogies are also published together for comparison. The translation of Radha-Krsna-Kalanidhih in English verse is made by the author in the same Sanskrit metre.

SRI REVESVARA RANJANA

(To be published after Some time)

A eulogy in Sanskrit of Tripura Sundari, Lord Siva and the Narmada, translated into Hindi and English prose by the author himself.

Author, publisher and distributor of both the books :—

Kavipundarikah, Sampaorha Datta Mishra
ULLASA SRI BHAVANAM, Gopal Garh
Bharatpur-321001 (Rajasthan) India.

Daksina :
CURIOSITY